

संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक

डॉ राजदेव मिश्र
ग्रा- मलमलिया
पो- बाँक बाजार
जनपद-बलरामपुर
उप्र

भारतीय परम्परा समस्त विषयों को वेदों तथा देवों से जोड़ती है। नाट्यकला के उद्भव के सम्बन्ध में प्रथम उल्लेख भारतमुनि के नाट्यशास्त्र में मिलता है। नाट्यशास्त्र के 36 अध्यायों में नाट्यकला के विभिन्न पक्षों पर विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार जब त्रेता युग में देवतागण काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि से अभिभूत हुये तब उन्होंने ब्रह्मा जी से ऐसे क्रीडनीयक की याचना की जो सभी के लिये ग्राह्य तथा आनन्द प्रदायक हो। तब ब्रह्मा जी ने समस्त वेदों के सार भाग से पाँचवे वेद स्वरूप नाट्यशास्त्र का प्रणयन किया—

जग्राह पाठ्यमृगवेदात् सामभ्यो गीतमेव च।

यजुर्वेदादभिनयान् रसानार्थवर्णादपि।।¹

संस्कृत नाट्य परम्परा में दृश्य तथा श्रव्य रूप से दो प्रकार के काव्य माने गये हैं। उसमें भी भावाभिव्यञ्जकता, मनोरञ्जकता आदि की दृष्टि से दृश्य काव्य को श्रेष्ठ माना गया है। दृश्य काव्यों के मुख्य रूप से 10 भेद स्वीकार किये गये हैं।

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।

व्यायोगसमवकारौ वीथ्यंकेहामृगा इति।।²

इन मुख्य भेदों के अतिरिक्त मुख्य रूप से 18 भेद माने गये हैं। इन समस्त दृश्य काव्यों में नाटकों को सर्वश्रेष्ठ माना गया है—

“ रूपकेषु नाटकं रम्यम् ”

क्योंकि नाटक का लक्षण ही समस्त रूपकों में अनुवृत्त होता है। नाटक को समस्त रूपकों का मूल माना गया है।

किसी भी रूप में उसकी कथावस्तु पात्र तथा रस आदि मुख्य होते हैं। वस्तुतः इन्हीं के भेद से मुख्यतः 10 प्रकार के रूपक स्वीकार किये गये हैं।

“वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः ” ।

इन रूपकों का अध्ययन करके समष्टिरूपेण कहा जा सकता है। कि कथानक (मिश्र, उत्पाद्य, प्रख्यात) के पश्चात् “ पात्र ” ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व माना गया है। क्योंकि कथावस्तु की गतिशीलता पात्रों पर ही निर्भर करती है। इसीलिये यदि काव्य (दृश्य, श्रव्य) के कथानक को शरीर तथा पात्रों को उसका प्राणतत्व कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। क्योंकि पात्रों के अभाव में (गद्यकाव्य, श्रव्यकाव्य, दृश्यकाव्य) काव्य का सृजन नहीं हो सकता। इसीलिये साहित्यकार को ब्रह्मा तथा उसकी कृति को सृष्टि माना गया है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।

यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

रूपकों में मुख्य रूप से नायक नायिका प्रतिनायक विदूषक आदि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पात्र होते हैं। नाट्यकला के आदि ग्रन्थ “भरतकृत नाट्यशास्त्र” में समस्त पात्रों का विवेचन प्राप्त होता है। परन्तु प्रतिनायक के विषय में कुछ स्पष्टतः उल्लेख नहीं मिलता है। सर्वप्रथम आचार्य धनञ्जय प्रतिनायक के विषय में मुखर हुये हैं—

लुब्धः धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृत् व्यसनी रिपुः ।

प्रतिनायक के लक्षण में नहीं परन्तु ईहामृग रूपक में प्रसंग में सर्वप्रथम प्रतिनायक का नामतः उल्लेख किया है। जिसको नायक विरोधी रूप से स्वीकार किया गया है।

मिश्रमीहामृगे वृत्तं चतुरंक त्रिसन्धिमत् ।

नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ ॥

प्रतिद्वन्द्विता, विरोध, विध्न विपत्ति आदि का मूर्त रूप ही, प्रतिनायक है। कभी काव्यों में ये मूर्त रूप में प्रतिनायक रूप से उपनिबन्धित होते हैं तो कभी अमूर्त भाव रूप से “विषम परिस्थिति” रूप से। वस्तुतः प्रतिनायक काव्य में नायक का प्रतिद्वन्द्वी होता है। जो निरन्तर नायक के अपकार में ही तत्पर रहता है।

व्यायोग, ईहामृग उत्सृष्टिकांक, डिम, वीथी आदि रूपकों का कथानक, युद्ध, नियुद्ध इत्यादि से युक्त होता है तथा इन रूपकों में प्रतिनायक का विशेष स्थान होता है क्योंकि यदि इनमें विपरीत या विरोधी सत्ता रूप से प्रतिनायक न हो तो युद्ध आदि का अवसर न होगा तब इस प्रकार के भिन्न-भिन्न रूपकों का अस्तित्व न स्वीकार किया जा सकेगा।

प्रतिनायक द्वारा नायक के कार्यों में विभिन्न प्रकार के विघ्न उपस्थित किये जाते हैं। अन्ततः उन विघ्नों पर विजय प्राप्त कर प्रतिनायक पर नायक विजय प्राप्त करता है। इससे स्पष्ट है कि प्रतिनायक ही नायक ही उत्कर्षता का हेतु है। यदि प्रतिनायक न हो तो नायक का नायकत्व सिद्ध न किया जा सकेगा।

प्रतिनायक आगमन से ही कथा में गतिशीलता विभिन्न रसों (दीप्तरस—करुण भयंकर, वीर, वीभत्स, रौद्र अद्भुत) का निबन्धन सम्भव होता है। यह तो स्वाभाविक ही है कि नायक किसी विरोधी या विपक्षी के प्रति ही युद्ध की तथा विरोध की भावना रखेगा। न किसी आत्मीय जन के प्रति।

इन दीप्त रसों के दृष्टिकोण से नायक प्रतिनायक में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। किसी भी प्रबन्ध या रूपक में मुख्यरस (शृङ्गार, वीर आदि) नायक से तथा गौण रस उपनायक तथा प्रतिनायक से सम्बद्ध होते हैं। गौण रस सदैव मुख्य रस को पुष्ट करते हुए सदैव उसका उपकार की करते हैं।

नाटककार प्रतिनायक के माध्यम से रसाभास भावाभास की योजना करते हुए मुख्य रस का वर्णन और भी अधिक चमत्कृत रूप से प्रस्तुत कर सकता है। उदाहरणतया मृच्छकटिकम् में वसन्तसेना के प्रति शकार का अनुराग अनुचित है क्योंकि वसन्तसेना तथा चारुदत्त परस्परानुरक्त है, तथापि शकार द्वारा बलात् ही वसन्तसेना की प्राप्ति की कामना की जाती है यहाँ अनौचित्य के रस के प्रवृत्त होने से यह रसाभास का विषय हो जाता है।

मम मदनमनङ्ग मन्मथं वर्धयन्ती
निशि च शयनके मम निद्रामाक्षिपन्ती।
प्रसरसि भयभीता प्रस्खलन्ती स्खलन्ती
मम वशमनुयाता रावणस्येव कुन्ती ॥³

शृंगार रस प्रधान काव्यों (प्रबन्ध व नाटक रूपक) में नायक नायिका के प्रेम संयोग अथवा वियोग को कवि प्रतिभा द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार के नाटकों में नायक नायिका के मिलन रूपी फल में अनेक बाधाएँ आती हैं, जो कभी प्राकृतिक बाधा रूप से प्रेम अपूर्व गति देती हैं। तो कभी वियोगावस्था का अनुभव कराती हैं। जैसे मालतीमाधव में माधव मालती के वियोग में—

गमनमलसं शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्ठवं,
श्वसितमधिकं किं न्वेतत्स्यात्किमन्यदितोऽथवा।
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि व यौवनं,
ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति च धीरताम् ॥⁴

प्रतिनायक द्वारा जो भी विघ्न-बाधाएँ आती हैं, वे चरित्र को उभारने में सहायक होती हैं। प्रतिनायक या बाधक तत्व की यह सफलता नायक के चरित्र को उभारने में सहायक होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रतिनायक नायक के चरित्र उत्कर्षाधान में सहायक होता है। साथ ही मुख्य रस की पुष्टि में सहायक होता है।

प्रतिनायक न केवल नायकोत्कर्ष में सहायक है, अपितु बिना प्रतिनायक के नायक के नायकत्व की कल्पना भी कठिन है। नायक जितना अधिक संघर्ष करता है। उन्ती ही अधिक भूमिका सशक्त स्वीकार की जाती है। प्रबल प्रतिद्वन्द्वी नायक के लिये विभिन्न बाधाएँ उत्पन्न करता है तथा नायक उन पर विजय प्राप्त कर स्वयं की श्रेष्ठता सिद्ध करता है। अस्तु यह निश्चितरूपेण कहा जा सकता है कि बिना प्रतिनायक के नायकत्व सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे रामायण में रावण तथा महाभारत में दुर्योधन न हो तो क्या राम का रामत्व और पाण्डवत्व सिद्ध हो सकेगा?

प्रतिनायक के माध्यम से प्रबन्ध (काव्य या रूपक) का मुख्य उद्देश्य "पुरुषार्थ प्राप्ति" की भी सिद्धि सरलतया सिद्ध होती है। प्रतिनायक द्वारा नायक के प्रति विरोध करना षड्यन्त्र मिथ्याडम्बर, हठवादिता, असभ्यता आदि सामाजिक में उसके प्रति विद्वेष तथा वितृष्णा आदि के भाव जगाते हैं। प्रतिनायक की यही असभ्यता हठवादिता आदि नायकोत्कर्ष में सहायक बनते हैं जिससे सामाजिकों में नायक के प्रति श्रद्धा तथा सहानुभूति की भावना जागृत होती है। अन्ततः नायक द्वारा सर्वप्रकारेण विघ्नों विरोधों को शान्त करते हुये प्रतिनायक का संहार किया जाता है जिससे सामाजिकों के प्रति एक संदेश सम्प्रेषित होता है—

रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत् ।⁵

इस प्रकार नाट्यशास्त्रीय परिपेक्ष्य में नायक के उत्कर्ष चित्रण की दृष्टि से नायक विरोधी अन्य तत्वों की तुलना में प्रतिनायक की भूमिका का जो महत्व है उसे पुनः पुनः कहने की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि कि प्रतिनायक की योजना करना अनिवार्य तो नहीं कहा जा सकता तथापि रूपकों में सरसता रोचकता की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध होती है।

अत्यन्त तिरस्कृत पात्र होत हुये भी प्रतिनायक समाज के प्रति अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि बिना उसके कर्तव्याकर्तव्य का बोध नहीं हो सकता है। इतने आवश्यक पात्र का किसी भी लक्षण ग्रन्थकार तथा आचार्य सुस्पष्ट रूपेण उल्लेख करते हुए उपेक्षा करते हैं। शोध दृष्ट्या भी नायक नायिका तथा विदूषक आदि पर अत्यन्त विस्तृत विवेचना प्राप्त होता है परन्तु प्रतिनायक पर नहीं, अस्तु इस विषय पर विचार करना अत्यन्त अपेक्षित है।

— — — — —

सन्दर्भ—

1. नाट्यशास्त्र 1 / 17
2. दशरूपक 1 / 18
3. मृच्छकटिकम् 1 / 21
4. मालतीमाधव 1 / 20
5. साहित्यदर्पण प्र०प०